शौचालय – एक संघर्ष गाथा

प्रियंका कुमारी

फिल्म 'टॉयलेट - एक प्रेम कथा' का नाम तो लगभग सभी ने सुना होगा, पर आज आपके सामने एक शिक्षिका के संघर्ष की ऐसी कहानी पेश की जा रही है जिसे 'शौचालय - एक संघर्ष गाथा' कहा जा सकता है।

पुआल के वो ढेर

इस संघर्ष की शुरुआत होती है मेरी पहली पोस्टिंग से। आज से करीब 15 साल पहले सन् 2007 में मेरी पहली पोस्टिंग बिहार के एक अत्यन्त दूर-दराज़ गाँव के शासकीय प्राथमिक विद्यालय की शिक्षिका के तौर पर हुई थी। पहले दिन बच्चों के साथ काफी अच्छा अनुभव रहा और स्टाफ के लोग भी सकारात्मक थे। पहले दिन ही पता चल गया था कि विद्यालय का शैक्षिक वातावरण काफी कमज़ोर है। खैर, इस बारे में यहाँ चर्चा नहीं करूँगी।

दिन भर विद्यालय में बिताने के बाद अब मुझे 'हल्का' होने की ज़रूरत महसूस हो रही थी। इधर-उधर नज़र दौड़ाई पर कहीं भी ऐसा कुछ दिखाई नहीं दिया। अन्ततः मैंने अपनी सहकर्मी शिक्षिका के पास जाकर धीरे-से कहा, "मुझे कहीं टॉयलेट नज़र नहीं आ रहा। प्लीज़ बताइए कहाँ है।"

वे मेरी तरफ देखकर मुस्कराईं और मुझे कुछ देर रुकने को कहा। ऐसा लगा कि जैसे मैंने उनसे कोई बचकानी बात कह दी हो। मैं मन-ही-मन सोचने लगी कि अजीब महिला है, मेरी मदद करने की बजाय रुकने के लिए बोल रही है। खैर, मैंने जैसे-तैसे इन्तज़ार किया। कुछ मिनटों के बाद उन्होंने मुझसे अपने साथ चलने के लिए कहा। मैं यंत्रवत उनके साथ चलने लगी। पर यह क्या, वे तो मुझे स्कूल के बगल के एक खेत में ले गईं, जहाँ एक छोटा-सा झोपड़ीनुमा घर और पुआल के बड़े-बड़े दो-तीन ढेर लगे हुए थे। इन्हीं पुआल के ढेर की ओट में उन्होंने मुझे बैठ जाने को कहा, ताकि मैं खुद को 'हल्का' कर सकूँ। मुझे ऐसा लग रहा था कि काटो तो खून नहीं। वे लगातार बोले जा रही थीं कि जल्दी-से कर लो, अभी कोई नहीं है। पर मेरा दिमाग तो सुन्न पड़ गया था। मैडम खीझकर खुद ही उस पुआल के पीछे बैठकर 'हल्का' हो लीं। मैंने चारों ओर नज़रें

घुमाकर देखा तो एक तरफ स्कूल का मैदान, दूसरी ओर दूर-दूर तक खुला खेत और दो ओर मुख्य सड़कें जिसमें एक सड़क के किनारे बनी कुछ छुट-पुट झोपड़ियाँ। कोई कैसे इस तरह खुले में बैठ सकता है। अन्ततः मैडम ने कहा, "यहाँ ऐसे ही चलता है, करना है तो करो, नहीं तो चलो वापस।" मैंने किसी तरह अपने आप पर नियंत्रण किया और स्कूल वापस चली आई। तब तक घर से गाड़ी भी मुझे लेने के लिए आ चुकी थी। घर पहुँचते ही मैं बाथरूम की तरफ भागी और चैन की साँस ली। माँ ने पूछा, "कैसा रहा आज का दिन?" मैंने कहा, "कुछ मत पूछो माँ, वहाँ तो टॉयलेट ही नहीं है..." और सारी कहानी उन्हें बताई। फिर पापा ने सुझाव दिया कि इस सम्बन्ध में अपने विद्यालय के प्रभारी से बात करो।

खैर, सारी बातों को भूलते हुए मैं अगले दिन पुनः विद्यालय गई। फिर दोपहर के बाद वही समस्या आ खड़ी हुई। पुनः मैडम से अनुरोध किया कि वे साथ में चलें, क्योंकि अभी छुट्टी होने में काफी वक्त था। जैसे-तैसे सकुचाते हुए मैं भी उस पुआल के पीछे बैठ गई। शर्म और भय से मेरा

बुरा हाल था कि कोई मुझे इस हाल में देख न ले। हड़बड़ी में उठकर कपड़े ठीक कर ही रही थी कि तभी एक छोटा-सा साँप वहाँ से गुज़रा। मैं चिल्ला उठी... पर मैडम हँसने लगीं और बोलीं, "अरे, यह साँप नहीं काटता, ऐसे ही भाग जाएगा।" उनकी इस प्रतिक्रिया से मैं स्तब्ध थी।

विद्यालय लौटने पर मैंने मैडम से चर्चा की, "आपने कभी इस बात के लिए आवाज़ क्यों नहीं उठाई? यह कितनी शर्मनाक बात है कि विद्यालय में एक अदद शौचालय नहीं है और शिक्षक व छात्र खेतों और सड़कों पर शौच करते हैं।" सहकर्मी मैडम ने कोई सन्तुष्ट करने वाला जवाब नहीं दिया।

अगले दिन विद्यालय जाकर मैंने शाला प्रधान से इस बारे में चर्चा करने की हिम्मत जुटाई। उनका व्यक्तित्व रूढ़िवादी मूल्यों को बढ़ावा देने वाला परिलक्षित होता था। किसी भी बात पर जल्दी नहीं बोलते थे और जब बोलते तो उनकी आवाज़ इतनी धीमी और रहस्मयी होती जाती थी कि मुझे उनकी आवाज़ सुनने के लिए अपनी सम्पूर्ण श्रवण शक्ति का प्रयोग करना पड़ता था। फिर भी मैंने उनके सामने अपनी बात रखी। लेकिन उन्होंने मुझे वित्तीय प्रावधानों का हवाला देकर ऐसा समझाया कि मैं उनका मुँह ही देखती रह गई। चूँकि मैं नवनियुक्त शिक्षिका थी और मुझे विद्यालय सम्बन्धी किसी भी प्रकार के वित्तीय प्रावधानों की जानकारी नहीं थी इसलिए मन मसोस कर रह गई।

वह अस्थाई शौचालय

कुछ समय बाद हमारे गाँव के ही एक अन्य शिक्षक से मुलाकात हुई। वे उच्च विद्यालय के प्रधान के पद पर आसीन थे। उन्होंने मेरा हाल-चाल लिया और पूछा, "कोई दिक्कत तो नहीं है न?" फिर क्या था, मैंने तुरन्त ही बेहद संक्षेप में अपनी व्यथा बताई कि विद्यालय में तो शौचालय ही नहीं है! मैंने थोड़ा ही कहा लेकिन उन्होंने बेहतर तरीके से समझा। दो-चार दिन बाद ही मैंने देखा कि मेरे विद्यालय प्रधान टाट की घेराबन्दी कर बीच में दो ईंट रखवाकर एक अस्थायी शौचालय का निर्माण करवा रहे हैं। यह देखकर मुझे घोर आश्चर्य हुआ और खुशी भी कि कम-से-कम अब पुआल के पीछे खुले में तो नहीं बैठना पड़ेगा। फिर बातों-ही-बातों में पता चला कि उस दिन उच्च विद्यालय के जो सर मिले थे, उन्होंने मेरे विद्यालय प्रधान को इस असुविधाजनक स्थिति के लिए आड़े हाथों लिया था। मैंने मन-ही-मन उन सर का शुक्रिया अदा किया जिनकी वजह से इस घास-फूस से बनी टाट की सुविधा उपलब्ध हो सकी।

अगले कुछ दिन काफी अच्छे से बीते। यह बात दीगर है कि एक ही जगह पर सबके मूत्र त्याग से ज़मीन हमेशा गीली रहती थी। फिर भी यह

सुकून था कि अब कोई हमें असहज स्थिति में नहीं देख सकता। पर यह खुशी भी लम्बे समय तक टिक नहीं सकी। बरसात का मौसम आ चुका था। एक दिन इतनी ज़ोरों की आँधी-बरसात आई कि वह अस्थायी शौचालय धराशाई हो गया। कुछ दिन की मिन्नतों के बाद उसे ठीक करवाया गया। लेकिन फिर एक दिन ऐसा तूफान आया कि टाट का कुछ भाग उड़कर दूर बिखर गया और कुछ भाग वहीं धराशाई हो गया। इस बार विद्यालय प्रधान किसी भी प्रकार का दया-भाव दिखाने के मूड में नहीं थे।

नया ठिकाना

हम फिर से अपने पुराने दस्तूर पर आ गए थे, खुले आकाश के नीचे। धीरे-धीरे मैं भी इस स्थिति को स्वीकारने लगी। हर दिन एक चुनौती होती – अपनी इज़्ज़त और सम्मान को सुरक्षित रखने की। इसी बीच उस खुले मैदान की झोपड़ी में थोड़ा विस्तार कर एक और कमरे को बढ़ाया गया था। पता चला कि उस झोपड़ी वाले की बहू कभी-कभी यहाँ आकर रहेगी और उसके लिए शौचालय की यह अस्थायी व्यवस्था

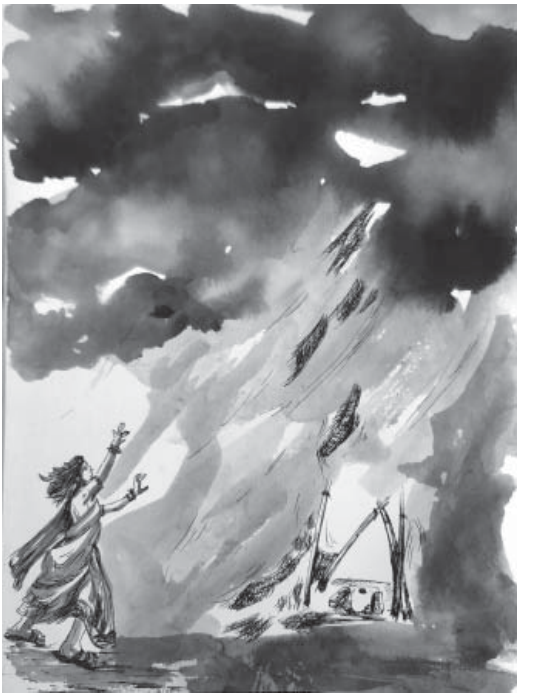

की गई है। यह जानकारी मिलते ही हम बहुत खुश हो गए। हमने अपने इस पड़ोसी से अपनत्व बढ़ाना शुरू किया ताकि हम उस टाट वाले अस्थायी घेरे का उपयोग कर सकें। जब-जब घर पर बहू होती, हमारे लिए भी उस शौचालय का उपयोग आसान और सहज होता। लेकिन जब उस घर के पुरुष वहाँ बैठे होते, तब स्थिति काफी असहज हो जाती थी। कभी-कभी हम दूर से ही देखकर वापस लौट जाते और इन्तज़ार में नज़रें गड़ाए रहते कि कब उस झोपड़ी के पुरुष बाहर की ओर रुख करेंगे। इसी तरह से हमारे दो साल निकल गए।

फिर एक दिन ऐसा हुआ जिसकी कल्पना कर मैं आज भी असहज हो जाती हूँ। क्लास लग चुकी थी और अचानक से मुझे ज़ोरों से खुद को दीर्घ 'हल्का' करने की ज़रूरत महसूस हुई, कितना भी नियंत्रित करने की कोशिश की पर सारी कोशिशें असफल। फिर तेज़ कदमों के साथ मैडम के पास गई और उनको बताया। उन्होंने एक जग की ओर इशारा करते हुए बोला कि इसमें पानी भर लो। वे मुझे एक आम के पेड़ के नीचे ले गईं जो कि विद्यालय के ही करीब था। मैं भय और शर्म से बैठ नहीं पा रही थी पर स्थिति ऐसी बनी कि सारी लोक-लाज छोड़कर बैठना पड़ा। मैडम एक ओर से पर्दा करने की कोशिश में लगी थीं लेकिन बाकी के तीनों ओर का खुलापन मेरे मन में दहशत और घृणा का भाव पैदा कर रहा था। मन अत्यन्त गुस्से और घृणा भाव से भर गया था – यह सिस्टम कैसा है कि विद्यालय में एक अदद शौचालय की व्यवस्था नहीं की जा सकती है।

मैंने उस दिन मन-ही-मन सबको बहुत कोसा। मैडम ने मुझे समझाया कि मैं क्यों इतनी परेशान हो रही हूँ, यह कोई बहुत बड़ी बात नहीं है... यहाँ सब लोग ऐसा ही करते हैं। अत्यन्त गुस्से में मैंने उनसे कहा, "आप यहाँ छह साल से हैं, फिर भी इस असुविधाजनक स्थिति से आपको फर्क नहीं पड़ रहा, इसलिए स्थितियाँ नहीं बदल रही हैं।" खैर, मैडम से बहस करने का फायदा नहीं था क्योंकि वे इस माहौल की आदी थीं।

उम्मीद की नई किरण

जब मैं विद्यालय से जुड़ी थी, उस समय मेरी उम्र 21-22 वर्ष थी। मैंने नोटिस किया था कि विद्यालय प्रधान मेरे साथ बच्चों जैसा व्यवहार करते थे। अगर विद्यालय में कोई मीटिंग होती तो महिला शिक्षकों को अपनी बात रखने या प्रतिनिधित्व करने का मौका नहीं दिया जाता था। सच कहूँ तो उस समय ऐसा लगता था कि मैं विद्यालय में नहीं, घर पर हूँ! लेकिन इस गाँव में दो-तीन बुज़ुर्ग ऐसे थे जो मिडिल पास थे और वे मुझे काफी सम्मान भी देते थे। इन लोगों से मैं

कभी-कभी शिक्षा और विद्यालय की समस्याओं पर बातें कर लिया करती थी। एक दिन एक बुज़ुर्ग ने मुझे बताया, "कोई एनजीओ है जो सभी विद्यालयों में शौचालय बनवाने का कार्य कर रहा है। आप भी एक आवेदन लिखकर दो। मैं बात करता हूँ।" यह सुनते ही मैं तुरन्त कॉपी-पेन लेकर लिखने बैठ गई। फिर मुझे याद आया कि मैं तो सहायक शिक्षिका हूँ, मेरे कहने से कोई कुछ नहीं करेगा। इसके लिए तो विद्यालय प्रधान से ही आवेदन दिलवाना होगा। मैंने उन बुज़ुर्ग से कहा, "आप यही बात हमारे प्रधान को भी बताएँ और समझाएँ कि वे आवेदन दें।" विद्यालय प्रधान से बात की गई और उन्होंने अन्ततः मुझसे ही कहा, "आप इनको एक आवेदन लिखकर दे दीजिए।" लेकिन आवेदन देने के बाद मुझे कहीं से भी किसी प्रकार की जानकारी प्राप्त नहीं हुई। कुछ दिन बेचैनी रही कि आवेदन का क्या हुआ होगा, शौचालय कब बनेगा या बनेगा भी कि नहीं।

शौचालय का बनना और टूटना

बात सन् 2012 की है जब एक दिन अचानक से देखा कि दो मज़दूर काम कर रहे हैं। पता चला कि किसी को विद्यालय में शौचालय बनाने का ठेका मिला है। ठेकेदार ही मज़दूरों को काम पर लगा गया है। मेरी खुशी

का ठिकाना नहीं रहा। मैं हर रोज़ निर्माण कार्य को इतनी बेकरारी से देखती कि लगता जैसे मेरे सपनों का महल बन रहा हो। दो शौचालय बनाए गए। ठेकेदार शौचालय में टाइल्स और गेट लगवाकर और उपयोगिता प्रमाणपत्र लेकर चलता बना।

हम बहुत खुश थे कि अब किसी को भी खुले में शौच के लिए नहीं जाना पड़ेगा। बच्चों को भी गर्व के साथ कहा कि अब से खुले में, खेतों में कोई नहीं जाएगा। लेकिन यह क्या, जब शौचालय में गए तो देखा, अन्दर और बाहर से उसकी कुण्डी ही गायब थी। फिर क्या था, शौचालय में जाते समय एक बच्चा या सहकर्मी शिक्षिका बाहर पहरा दे रहे होते। कुण्डी न रहने का नतीजा यह हुआ कि गाँव के ही कुछ शरारती तत्वों ने टॉयलेट को गन्दगी के ढेर में बदल दिया जिसमें पैर रखना भी दूभर होता था। हम सभी फिर पुरानी स्थिति में आ गए। लेकिन चूँकि मैं प्रेग्नेंसी पीरियड में थी और ऐसे में साफ-सफाई का खास ख्याल रख पाना मेरे लिए चुनौतीपूर्ण हो गया था, इसलिए इस बार मैं बर्दाश्त करने के मूड में नहीं थी। विद्यालय प्रधान को मैंने खुलकर लताड़ा। यहाँ तक कह डाला कि "कल्पना कीजिए, आपके परिवार की बहन-बेटी इस असहज हालत में होती तो भी क्या आप शौचालय के प्रति ऐसे ही उदासीन बने रहते?"

अन्ततः 50-50 रुपए की सहयोग राशि इकट्ठा करके शौचालय की सफाई और कुण्डी लगाने का काम किया गया। अब लगा कि सारे दुखों का अन्त हो गया। डेढ़-दो साल हमने शौचालय का भरपूर इस्तेमाल किया। पर ठेकेदारी व्यवस्था के अन्तर्गत बना वह शौचालय अपना रंग दिखाने लगा। एक शौचालय तो एकदम अनुपयोगी हो गया, और एक से जैसे-तैसे काम चल रहा था।

सन् 2014 में हमारे विद्यालय में एक नए नियमित शिक्षक स्थानान्तरित होकर आए। उन्होंने आते ही अपना रंग-ढंग दिखाना शुरू किया क्योंकि उन्हें विद्यालय प्रधान का पद चाहिए था। सभी को विद्यालय विकास का सब्ज़बाग दिखाकर ऐसी परिस्थितियाँ पैदा कीं कि विवश होकर विद्यालय प्रधान ने अपना स्थानान्तरण ले लिया। खैर, हमें तो अपनी ड्यूटी निभाने से मतलब था। परन्तु कुछ ही महीनों बाद नए विद्यालय प्रधान ने विद्यालय के पुराने भवन के ऊपर एक अतिरिक्त कक्ष बनाने का निर्णय ले लिया। इसके लिए सीढ़ियों का निर्माण आवश्यक था। सीढ़ी की जगह बनाने के लिए उन्होंने उपयोग में आ रहे उस शौचालय को तुड़वा दिया। इस बात पर हमने घोर आपत्ति जताई तो उन्होंने आश्वासन दिया कि सीढ़ी के नीचे जो खाली जगह है, वहाँ पर शौचालय का निर्माण करवा दिया जाएगा। यह बात सन् 2016 की

होगी। इस तरह हमारा विद्यालय एक बार फिर शौचालय-विहीन हो गया।

इसी बीच मैं एक बेटी की माँ बन चुकी थी। अब मेरे लिए अपनी और विद्यालय के बच्चों की स्वच्छता का ख्याल रखना अत्यन्त मुश्किल हो रहा था। आखिरकार, एक दिन मैं संक्रमण की चपेट में आ ही गई। असहनीय दर्द के दौर से गुज़रना पड़ा। डॉक्टर ने साफ कह दिया था कि ढेर सारा पानी पिएँ और साफ-सुथरे शौचालय का प्रयोग करें। ये दोनों ही कार्य असम्भव थे, क्योंकि मैं इस डर से पानी ज़्यादा नहीं पीती थी कि बार-बार शौचालय जाने की ज़रूरत महसूस होगी और विद्यालय में तो खुले में जाने के अलावा और कोई विकल्प ही नहीं था। इसका परिणाम यह हुआ कि मैं बार-बार संक्रमित हुई। हम सभी ने मिलकर नए विद्यालय प्रधान से शौचालय बनवाने के लिए बहुत बोला लेकिन परिणाम शून्य रहा। फिर एक दिन पता चला कि उनका प्रमोशन हो गया है और वे दूसरे विद्यालय में स्थानान्तरित हो गए हैं।

सन् 2017 में अब विद्यालय प्रधान का प्रभार एक मैडम को मिल गया। ये वही मैडम थीं जो पहली बार मुझे शौचालय के लिए पुआल के पीछे ले गई थीं। उन मैडम के प्रधान बनने पर मैं बहुत खुश हुई और लगा कि अब तो ज़रूर इस समस्या का अन्त होगा। आखिर वे खुद भी एक औरत हैं। लेकिन जब मैंने उनसे शौचालय निर्माण को लेकर दो-तीन बार चर्चा की तो मेरा यह भ्रम टूट गया। एक दिन उन्होंने खीझकर जवाब दिया, "इतना ही आसान होता तो बाकी प्रधान लोग नहीं बनवा देते।" मैं उनका मुँह ही देखती रह गई। मुझे भी गुस्सा आ गया और मैंने कहा, "ठीक है, आप नहीं बनवाएँगी तो मैं अधिकारियों से सम्पर्क करूँगी।" इस पर उन्होंने कहा, "मेरे सामने ज़्यादा अँग्रेज़ी नहीं चलेगी, जो करना है करो। इतना ही दम था तो बाकी लोगों के समय क्यों नहीं बनवा लिया?" मैडम की बात से मैं अन्दर तक टूट गई थी। कुछ महीने ऐसे ही बीते। छुट्टी के बाद विद्यालय की सीढ़ियों के नीचे ही छिपते-छिपाते जैसे-तैसे खुद को 'हल्का' कर लिया करते थे।

स्वच्छता महाअभियान का हश्र

इसी बीच सरकार द्वारा स्वच्छता का एक महाअभियान शुरू किया गया – सभी घरों में शौचालय की सुविधा उपलब्ध कराने और खुले में शौच करने पर रोक लगाने के लिए। हम सभी शिक्षकों को भी इस अभियान में ज़िम्मेदारी दी गई। हमें बीडीओ (ब्लॉक डेवलपमेंट ऑफिसर) के वॉट्सएप ग्रुप में भी शामिल किया गया। हमने घर-घर जाकर सर्वे किया और लोगों को खुले में शौच करने के दुष्परिणामों के बारे में बताया। परन्तु

मन-ही-मन मैं सोच रही थी कि क्या मैं इस योग्य हूँ कि लोगों से बोल सकूँ कि खुले में शौच न करें जबकि मेरे विद्यालय के बच्चे और शिक्षक खुले में शौच करने को मजबूर हैं।

यह बात शायद सन् 2017 की होगी जब मैंने एक दिन हिम्मत करके बीडीओ साहब वाले वॉट्सएप ग्रुप में अपने विद्यालय के फोटो डालकर लिखा कि यह एक ऐसा स्कूल है जहाँ के शिक्षक घर-घर जाकर लोगों को जागरूक कर रहे हैं कि खुले में शौच न करें, पर विद्यालय के सभी शिक्षक/शिक्षिका और बच्चे खुले में शौच करने जाते हैं। मैंने मैसेज तो सार्वजनिक रूप से कर दिया पर मन-ही-मन डर भी लग रहा था कि पता नहीं क्या प्रतिक्रिया होगी। बीडीओ साहब ने रिप्लाई किया – विद्यालय के प्रधान का मोबाइल नम्बर भेजिए। मेरी तो खुशी का ठिकाना नहीं रहा। मैंने तुरन्त पुराने और वर्तमान, दोनों प्रधानों का नम्बर साझा कर दिया। आगे क्या बात हुई, मुझे कुछ भी पता नहीं चला। पर मुझे इतना आश्वासन दिया गया कि अब जल्द ही शौचालय बन जाएगा। मुझे लगा कि अब तो शौचालय बनने से कोई नहीं रोक सकता।

पर यह क्या, फिर कुछ महीने बीत गए, शौचालय अब तक नहीं बना और न ही इस बारे में कोई खबर मिली। मैडम भी सकारात्मक नहीं थीं इसलिए उनसे कुछ पूछना बेवजह की लड़ाई को आमंत्रण देना था। खैर, हिम्मत करके एक दिन बीडीओ साहब को निजी तौर पर मैसेज किया और कहा, "सर, अभी तक शौचालय नहीं बना। कृपा करके कुछ दया-दृष्टि कीजिए।" इस पर बीडीओ साहब ने आश्चर्य व्यक्त किया, "क्या, अभी तक शौचालय नहीं बना? अच्छा, मैं बात करता हूँ प्रधान से। पुनः उनका नम्बर भेज दीजिए।" अगले दिन विद्यालय गई तो मैडम गुस्से में थीं। उनके चेहरे के भाव मुझे संकेत दे रहे थे कि जैसे बीडीओ साहब से बात करके मैंने गलती कर दी हो। शायद बीडीओ साहब ने उनको फटकार लगाई थी।

इसी बीच पता चला कि हमारा विद्यालय जिस प्रखण्ड में है, उसे ओडीएफ (ओपन डिफिकेशन फ्री, खुले में शोच-मुक्त) घोषित कर दिया गया है और बीडीओ साहब को उनके प्रयासों के लिए सम्मानित किया जाएगा। यह खबर सुनकर मुझे बहुत दुःख हुआ। क्योंकि तब तक मैं जान चुकी थी कि बहुत-से ऐसे विद्यालय हैं जहाँ शौचालय की सुविधा नगण्य है या जीर्ण-शीर्ण अवस्था में है। फिर जिस प्रखण्ड के विद्यालय के शिक्षक और छात्र खुले में शौच करने जाते हों, वह ओडीएफ कैसे घोषित हो सकता है। मन अत्यन्त दुखी हो गया था। सभी चीज़ों से विश्वास टूटने लगा था। अन्ततः मैंने हार मान ली।

फेसबुक, पत्रकार व शिक्षक संघ

अब तक फेसबुक चलन में आ चुका था। मुझे महसूस हुआ कि हम सोशल प्लेटफॉर्म का उपयोग सिर्फ एंटरटेनमेंट के लिए ही नहीं बल्कि अर्थपूर्ण कार्यों में मदद लेने के लिए भी कर सकते हैं। मेरी मित्र सूची में एक पत्रकार थे जो उस समय एक नामी-गिरामी दैनिक अखबार के लिए काम करते थे। मैंने उनके समक्ष अपनी वेदना व्यक्त की और प्रश्न रखा – क्या आपको नहीं लगता है कि जिस विद्यालय में तीन महिला शिक्षिकाएँ और कुछ सौ लड़कियाँ हों, वहाँ एक अदद शौचालय का निर्माण अनिवार्य है? अगर कभी कोई अनहोनी घट जाती है तब फिर अफसोस के सिवा कुछ हाथ में नहीं रहेगा। चूँकि उस समय ज़िला मुख्यालय तक पहुँच होना बहुत बड़ी बात होती थी, इसलिए मुझे लगा कि अपने विद्यालय की समस्या का निदान शायद मीडिया के माध्यम से करवा सकूँ।

वह पत्रकार एक भले और संवेदनशील इन्सान थे। अगले ही दिन वे 38 कि.मी. की यात्रा कर मेरे विद्यालय पहुँचे और वहाँ की वास्तविक स्थिति का अवलोकन किया। जो भी सूचनाएँ उन्हें चाहिए थीं, मैंने उपलब्ध करवाईं। मुझे अपने स्टाफ के लोगों की प्रतिक्रिया से थोड़ा-सा डर भी लग रहा था, इसलिए मैंने पत्रकार महोदय से अनुरोध किया कि वे मेरा नाम जाहिर न करें। विद्यालय में सभी लोग अचम्भित थे कि इस सुदूर देहात में तो शिक्षा अधिकारी तक नहीं आते, यह पत्रकार कैसे आ गया। मैंने भी अनभिज्ञता जाहिर कर दी।

अगली सुबह का अखबार देखा तो प्रमुखता से विद्यालय की तस्वीर के साथ शौचालय की समस्या को उठाया गया था जिसे पढ़कर मैं काफी उत्साहित हुई। विद्यालय में भी सबको दिखाया। लेकिन इस खबर से प्रधान मैडम रुष्ट दिखीं और बोलने लगीं, "इस सबसे कुछ नहीं होता।"

फिर कुछ समय बीत गया। कहीं से कोई खबर नहीं मिली। मन एक बार फिर निराशाओं से भरने लगा। इसी बीच एक दिन किसी काम के सिलसिले में बीडीओ साहब का मैसेज आया। मैंने उनसे कहा, "सर, आपने आखिर मेरा काम नहीं करवाया।" सर ने पूछा, "कौन-सा काम, शौचालय निर्माण का!" मैंने कहा, "हाँ सर, अभी तक शौचालय नहीं बना।" उन्होंने कहा, "आपकी विद्यालय प्रधान ने तो पिछली बार मुझसे कहा था कि शौचालय का निर्माण कार्य प्रगति पर है। मैंने बहुत डाँट लगाई थी आपकी प्रधान को। अब तो मेरा स्थानान्तरण हो गया है, फिर भी मैं आपकी विद्यालय प्रधान से बात करूँगा।"

यह सुनकर मुझे धक्का लगा कि इतना बड़ा झूठ बोला गया है। आखिर क्या समस्या है एक शौचालय निर्माण

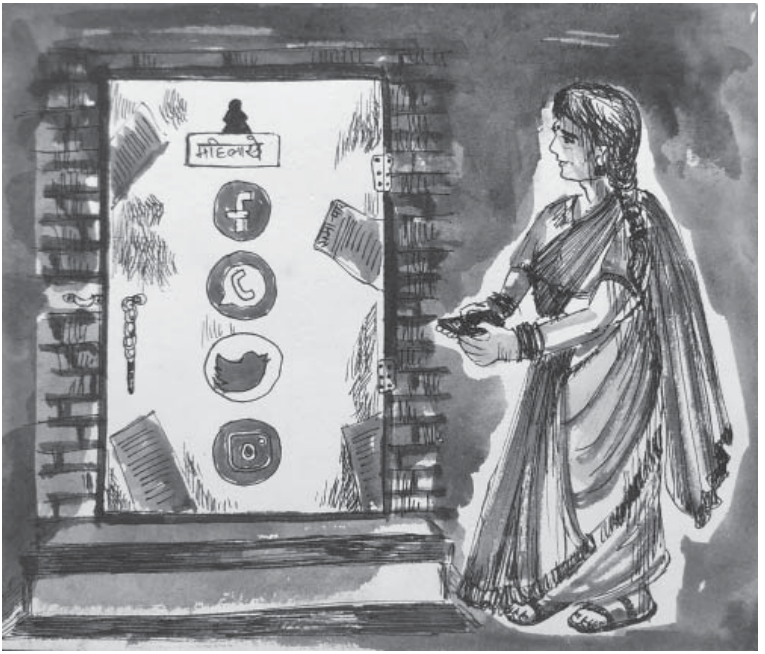

में! काश, मैं प्रधान होती तो इतना परेशान नहीं होना पड़ता। मेरी छात्राएँ भी शौचालय के नाम पर कक्षा के बीच से ही छुट्टी लेकर घर चली जाती थीं। मेरे पास कोई विकल्प भी नहीं था कि मैं उन्हें पूरे समय के लिए विद्यालय में रोक पाऊँ। एक अदद शौचालय की कमी कितनी सारी चीज़ें प्रभावित कर रही थी। इस ओर कोई ध्यान नहीं दे रहा था।

कुछ महीने फिर बीते। 2017 का साल भी बीतने को था। एक दिन फेसबुक के माध्यम से ही एक शिक्षक संघ के ज़िलाध्यक्ष से मेरी जान-पहचान हुई। शैक्षिक मुद्दों पर तर्क-वितर्क के दौरान मैंने अपने विद्यालय के शौचालय की समस्या उनके सामने रखी और अनुरोध किया कि वे मेरी मदद करें। उन्होंने मुझसे ज़िला कार्यक्रम पदाधिकारी, सर्व शिक्षा अभियान के नाम पर एक आवेदन लिखने को कहा और इसकी प्रतिलिपि संघ के नाम से भी देने को कहा। मैंने अपने सारे प्रयासों और चिन्ताओं को संक्षेप में समेटते हुए सारी बातों को उस आवेदन में समाहित किया और वह आवेदन ज़िलाध्यक्ष के हाथों ज़िला कार्यक्रम पदाधिकारी के समक्ष सीधे तौर पर पेश कर, उन्हें समस्याओं से अवगत कराया। संयोग

से उस समय ज़िलों में मॉडल शौचालयों का निर्माण होना था जिसकी सूची स्वीकृति के लिए पटना भेजी जानी थी। मेरे विद्यालय का नाम भी इस सूची में भेज दिया गया।

आखिरकार मेहनत रंग लाई

सन् 2018 शुरू हो चुका था। कुछ दिनों बाद मैंने एक पत्र देखा जिसमें ज़िले के विभिन्न प्रखण्डों में शौचालय निर्माण के लिए विद्यालयों का नाम था। उन सभी विद्यालय के प्रधानों को इससे सम्बन्धित एक मीटिंग में भी भाग लेना था। सौभाग्यवश, मेरे विद्यालय का नाम भी इस सूची में शामिल था। मैंने विद्यालय की अन्य शिक्षिका को यह सूचना दी, "मेहनत रंग लाई। हमारे विद्यालय में अब बहुत बढ़िया शौचालय बनेगा।" वे भी बहुत खुश हुईं। मैंने अपनी विद्यालय प्रधान को भी इस सम्बन्ध में सूचित किया। इस पर वे भड़क उठीं और बोलीं, "तुम क्रेडिट लेना चाह रही हो, ये शौचालय मैंने पैसे खर्च करके पास करवाए हैं।" उनकी बातें सुनकर हम सभी एक साथ हँसने लगे। हमने कहा, "कोई बात नहीं, क्रेडिट आप रख लो। हमें बस शौचालय बनवाकर दे दो।" मैडम वहाँ से अपना-सा मुँह बनाकर चल दीं। कुछ ही दिनों बाद निर्माण कार्य शुरू हो गया और हमारे विद्यालय में एक बहुत ही सलीके का शौचालय बनाया गया जिसमें लड़के-लड़कियों का अलग-अलग शौचालय था। सभी में सफेद रंग की टाइल्स लगीं। जब शौचालय बनकर तैयार हो गया तो मेरी सहयोगी शिक्षिका ने मुझे धन्यवाद कहा और शौचालय के सामने खड़े होकर हमने साथ में फोटो खिंचवाई। सच कहूँ तो यह तस्वीर खिंचवाने में जो मज़ा आया वो किसी खूबसूरत मीनार के सामने खिंचवाने में भी नहीं आता। ग्यारह साल के अथक प्रयास के बाद बना यह शौचालय अभी तक तो चालू हालत में है!

प्रियंका कुमारी: पेशे से शिक्षिका, स्वभाव से सामाजिक कार्यकर्ता और हृदय से लेखक हैं। पिछले 14 वर्षों से प्राथमिक कक्षाओं में शिक्षण कार्य। वर्तमान में, मध्य विद्यालय मलहटोल, सीतामढ़ी, बिहार में सहायक शिक्षिका हैं। कई काव्य रचनाएँ प्रकाशित। महिला साक्षरता, महिलाओं के डिजिटल सशक्तिकरण, गरीब बच्चों की शिक्षा के लिए सोशल मीडिया का उपयोग करने व बच्चों से मित्रता करने में विशेष रुचि।

सभी चित्र: स्वाति कुमारी: बिहार के एक विस्थापित परिवार में जन्मीं स्वाति ने दिल्ली के कॉलेज ऑफ आर्ट से पेंटिंग में बी.एफ.ए. और अंबेडकर यूनिवर्सिटी, दिल्ली से विज़ुअल आर्ट्स में एम.ए. किया है। उनकी खोज इस बात के इर्द-गिर्द घूमती है कि शरीर और स्थान कैसे कार्य करते हैं, प्रतिक्रिया करते हैं, बातचीत करते हैं और एक-दूसरे को प्रतिक्रिया देते हैं।